IJARETY

International Journal of Advanced Research in Education and TechnologY *(IJARETY)*

INTERNATIONAL STANDARD SERIAL NUMBER INDIA

INNO SPACE SJIF Scientific Journal Impact Factor

doi cross ref

निस्केयर NISCAIR

International Journal of Advanced Research in Education and TechnologY(IJARETY)

| ISSN: 2394-2975 | www.ijarety.in| | Impact Factor: 6.421| A Bi-Monthly, Double-Blind Peer Reviewed & Referred Journal |

|| Volume 11, Issue 1, January 2024 ||

आदिवासी विमर्श : अवधारणा एवं स्वरूप

प्रियंका यादव

सहायक आचार्य, हिन्दी, राजकीय महाविद्यालय, बहरोड़, राजस्थान

सार

आदिवासी विमर्श बीसवीं सदी के अंतिम दशकों में शुरु हुआ अस्मितामूलक विमर्श है। इसके केंद्र में आदिवासियों के जल जंगल जमीन और जीवन की चिंताएं हैं। माना जाता है कि १९९१ के बाद भारत में शुरु हुए उदारीकरण और मुक्त व्यापार की व्यवस्थाओं ने आदिम काल से संचित आदिवासियों की संपदा के लूट का रास्ता भी खोल दिया। विशाल एवं अत्यंत शक्तिशाली बहुराष्ट्रीय एवं देशी कंपनियों ने आदिवासी समाज को उनके जल, जंगल और जमीनों से बेदखल कर दिया। इसने आदिवासी इलाकों में बड़े पैमाने पर विस्थापन को जन्म दिया। बड़ी संख्या में झारखंड, छत्तीसगढ़, दार्जिलिंग आदि इलाकों से लोग बड़े महानगरों जैसे दिल्ली, कोलकाता आदि में आने को विवश हुए। इन आदिवासी लोगों के पास न धन था, न ही आधुनिक शिक्षा थी। शहरों में ये दिहाड़ी मजदूर या घरेलु नौकर बनने को बाध्य हुए। विशालकाय महानगरों ने इनकी संस्कृति, लोकगीतों और साहित्य को भी निगल लिया। नई पीढ़ी के कुछ आदिवासियों ने शिक्षा हासिल की और अवसरों का लाभ उठाकर सामर्थ्य अर्जित किया। उन्होंने सचेत रूप से अपने समाज के सामाजिक, सांस्कृतिक हितों की रक्षा के लिए आवाज उठाना आरंभ किया। उन्होंने संगठन भी बनाए। आदिवासियों ने अपने लिए इतिहास की नए सिरे से तलाश की। उन्होंने अपने नेताओं की पहचान की। अपने लिए नेतृत्व का निर्माण किया। साथ ही समर्थ आदिवासी साहित्य को जन्म दिया। प्रतिरोध अस्मितामूलक साहित्य की मुख्य विशेषता है। आदिवासी विमर्श भी आदिवासी अस्मिता की पहचान, उसके अस्तित्व संबंधी संकटों और उसके खिलाफ जारी प्रतिरोध का साहित्य है। यह देश के मूल निवासियों के वंशजों के प्रति भेदभाव का विरोधी है। यह जल, जंगल, जमीन और जीवन की रक्षा के लिए आदिवासियों के 'आत्मनिर्णय' के अधिकार की माँग करता है।

परिचय

आदिवासी साहित्य की अवधारणा

आदिवासी साहित्य की अवधारणा को लेकर तीन तरह के मत हैं-

- (1) आदिवासी विषय पर लिखा गया साहित्य आदिवासी साहित्य है।
- (2) आदिवासियों द्वारा लिखा गया साहित्य आदिवासी साहित्य है।
- (3) 'आदिवासियत' (आदिवासी दर्शन) के तत्वों वाला साहित्य ही आदिवासी साहित्य है।

पहली अवधारणा गैर-आदिवासी लेखकों की है। परंतु समर्थन में कुछ आदिवासी लेखक भी हैं। जैसे- रमणिका गुप्ता, संजीव, राकेश कुमार सिंह, महुआ माजी, बजरंग तिवारी, गणेश देवी आदि गैर-आदिवासी लेखक, और हरिराम मीणा, महादेव टोप्पो, आईवी हांसदा आदि आदिवासी लेखक।

दूसरी अवधारणा उन आदिवासी लेखकों और साहित्यकारों की है जो जन्मना और स्वानुभूति के आधार पर आदिवासियों द्वारा लिखे गए साहित्य को ही आदिवासी साहित्य मानते हैं।

अंतिम और तीसरी अवधारणा उन आदिवासी लेखकों की है, जो 'आदिवासियत' के तत्वों का निर्वाह करने वाले साहित्य को ही आदिवासी साहित्य के रूप में स्वीकार करते हैं। ऐसे लेखकों और साहित्यकारों के भारतीय आदिवासी समूह ने 14-15 जून 2014 को रांची (झारखंड) में आयोजित दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी में इस अवधारणा को ठोस रूप में प्रस्तुत किया, जिसे 'आदिवासी साहित्य का रांची घोषणा-पत्र' के तौर पर जाना जा रहा है और अब जो आदिवासी साहित्य विमर्श का केन्द्रीय बिंदु बन गया है।

आदिवासी साहित्य का रांची घोषणा-पत्र

आदिवासी साहित्य की बुनियादी शर्त उसमें आदिवासी दर्शन का होना है जिसके मूल तत्व हैं -

| ISSN: 2394-2975 | www.ijarety.in| | Impact Factor: 6.421| A Bi-Monthly, Double-Blind Peer Reviewed & Referred Journal |

|| Volume 11, Issue 1, January 2024 ||

1. प्रकृति की लय-ताल और संगीत का जो अनुसरण करता हो।
2. जो प्रकृति और प्रेम के आत्मीय संबंध और गरिमा का सम्मान करता हो।
3. जिसमें पुरखा-पूर्वजों के ज्ञान-विज्ञान, कला-कौशल और इंसानी बेहतरी के अनुभवों के प्रति आभार हो।
4. जो समूचे जीव जगत की अवहेलना न करें।
5. जो धनलोलुप और बाजारवादी हिंसा और लालसा का नकार करता हो।
6. जिसमें जीवन के प्रति आनंदमयी अदम्य जिजीविषा हो।
7. जिसमें सृष्टि और समष्टि के प्रति कृतज्ञता का भाव हो।[1,2,3]
8. जो धरती को संसाधन की बजाय मां मानकर उसके बचाव और रचाव के लिए खुद को उसका संरक्षक मानता हो।
9. जिसमें रंग, नस्ल, लिंग, धर्म आदि का विशेष आग्रह न हो।
10. जो हर तरह की गैर-बराबरी के खिलाफ हो।
11. जो भाषाई और सांस्कृतिक विविधता और आत्मनिर्णय के अधिकार के पक्ष में हो।
12. जो सामंती, ब्राह्मणवादी, धनलोलुप और बाजारवादी शब्दावलियों, प्रतीकों, मिथकों तथा व्यक्तिगत महिमामंडन से असहमत हो।
13. जो सहअस्तित्व, समता, सामूहिकता, सहजीविता, सहभागिता और सामंजस्य को अपना दार्शनिक आधार मानते हुए रचाव-बचाव में यकीन करता हो।
14. सहानुभूति, स्वानुभूति की बजाय सामूहिक अनुभूति जिसका प्रबल स्वर-संगीत हो।
15. मूल आदिवासी भाषाओं में अपने विश्व-दृष्टिकोण के साथ जो प्रमुखतः अभिव्यक्त हुआ हो।

हिंदी आदिवासी कविताएं

आदिवासी विमर्श संबंधी साहित्य में कविता, कहानी, उपन्यास आदि प्रमुख विधाओं में रचनाएं हुई हैं। इनमें कविता सर्वाधिक महत्वपूर्ण विधा है। प्रमुख आदिवासी कविता संग्रहों में झारखण्ड की संथाली कवयित्री निर्मला पुतुल की 'नगाड़े की तरह बजते शब्द'; रामदयाल मुंडा का 'नदी और उसके संबंधी तथा अन्य नगीत' और 'वापसी, पुनर्मिलन और अन्य नगीत' आदि हैं। इसी तरह कुजूर, मोतीलाल और महादेव टोप्पो की कविताएं भी अपने प्रतीक चरित्रों और घटनाओं की कथात्मक संशलिष्टता के कारण विशिष्ट पहचान बनाने में सफल रही हैं। मुक्त बाजार आधारित अर्थव्यवस्था के दौर में आदिवासी कभी पैसे और कभी सरकारी नियमों के बल पर अपनी जमीन से बेदखल होकर पलायन कर रहे हैं। इसके कारण आदिवासी भाषा एवं संस्कृति संकट में पड़ गई है। परंपरागत खेलों से लेकर आदिवासियों की लोक-कला तक विलुप्त होती जा रही है। यह संकट वामन शेलके के यहाँ इस रूप में है-

सच्चा आदिवासी

कटी पतंग की तरह भटक रहा है,
कहते हैं, हमारा देश

इक्कीसवीं सदी की ओर बढ़ रहा है।

मदन कश्यप की कविता "आदिवासी" बाजार के क्रूर चेहरे को सामने लाती है-

ठण्डे लोहे-सा अपना कन्धा ज़रा झुकाओ,

हमें उस पर पाँव रखकर लम्बी छलाँग लगानी है,
मुल्क को आगे ले जाना है।
बाज़ार चहक रहा है
और हमारी बेचैन आकांक्षाओं में साथ-साथ हमारा आयतन भी
बढ़ रहा है,

तुम तो कुछ हटो, रास्ते से हटो।

अनुज लुगुन विस्थापन के भय को स्वर देते हुए लिखते हैं -

| ISSN: 2394-2975 | www.ijarety.in| | Impact Factor: 6.421| A Bi-Monthly, Double-Blind Peer Reviewed & Referred Journal |

|| Volume 11, Issue 1, January 2024 ||

बाज़ार भी बहुत बड़ा हो गया है,

मगर कोई अपना सगा दिखाई नहीं देता।
यहाँ से सबका रूख शहर की ओर कर दिया गया है:
कल एक पहाड़ को ट्रक पर जाते हुए देखा,
उससे पहले नदी गयी,
अब खबर फैल रही है कि

मेरा गाँव भी यहाँ से जाने वाला है।

हिंदी आदिवासी गद्य

आदिवासी गद्य साहित्य की शुरुआत बीसवीं सदी के आठवें दशक में हुई। वाल्टर भेंगरा ने झारखण्ड अंचल और वहाँ के जीवन को केंद्र में रखते हुए 'सुबह की शाम' उपन्यास लिखा। इसे हिंदी का पहला आदिवासी उपन्यास माना जाता है। पीटर पाल एक्का ने 'जंगल के गीत' लिखा। इस उपन्यास में उन्होंने तुंबा टोली गाँव के युवक करमा और उसकी प्रिया करमी के माध्यम से बिरसा मुण्डा के उलगुलान का संदेश पहुंचाया। आदिवासियों द्वारा लिखे गए उपन्यास समकालीन शिल्प और ढाँचों से दूर दिखाई पड़ते हैं। इस कमी की भरपायी गैर आदिवासियों द्वारा लिखे गए आदिवासी उपन्यासों से कुछ हद तक हो गई है। ऐसे उपन्यासों में रमणिका गुप्ता का 'सीता-मौसी', कैलाश चंद चौहान का 'भँवर', रणेंद्र का 'ग्लोबल गाँव का देवता' आदि महत्वपूर्ण हैं। आदिवासियों द्वारा लिखे गए हाल के उपन्यासों में हरिराम मीणा का 'धूणी तपे तीर' सर्वाधिक उल्लेखनीय है। रणेंद्र का 'ग्लोबल गाँव के देवता' सिर्फ आग और धातु की खोज करनेवाली और धातु पिघलाकर उसे आकार देनेवाली कारीगर असुर जाति के "जीवन का संतप्त सारांश" है। उपन्यास की शुरुआत इस पीड़ा से होती है- "छाती ठोंक ठोंककर अपने को अत्यन्त सहिष्णु और उदार करनेवाली हिन्दुस्तानी संस्कृति ने असुरों के लिए इतनी जगह भी नहीं छोड़ी थी। वे उनके लिए बस मिथकों में शेष थे। कोई साहित्य नहीं, कोई इतिहास नहीं, कोई अजायबघर नहीं। विनाश की कहानियों के कहीं कोई संकेत्र मात्र भी नहीं' उपन्यास के अंत तक असुर जनजाति की त्रासदी 'व्यापक समाज की त्रासदी का प्रारूप बन जाती है।'

हरिराम मीणा के 'धूणी तपे तीर' में गोविन्द गुरु द्वारा भीलों-मीणों के बीच जागृति फैलाने, संगठित करने और उन्हें अपने हक के लिए बोलना और लड़ना सिखाने तथा बलिदान के लिए तैयार करने की कथा है। यह सन् 1913 ई. में राजस्थान के बाँसवाड़ा अंचल में स्थित मानगढ़ पहाड़ी के आदिवासियों के बलिदान की सच्ची घटना पर आधारित है। आदिवासियों द्वारा सामंतों और औपनिवेशिक शक्तियों की साम्राज्यवादी मानसिकता के विरुद्ध गोविन्द गुरु के नेतृत्व में शांतिपूर्ण विद्रोह का बिगुल बजाया गया जिसने आगे चलकर औपनिवेशिक दमन की प्रतिक्रिया में हिंसक रूप ले लिया। इस उपन्यास में लेखक ने आदिवासी-अस्मिता को शोषित-उत्पीड़ित वर्ग और शोषक वर्ग के बीच के वृहत्तर पारंपरिक संघर्ष के रूप में देखा है।

संबंधित पत्रिकाएं[4,5,6]

साहित्यिक विमर्शों का निर्माण पत्र-पत्रिकाओं के सहारे ही हो सकता है। आदिवासी विमर्श के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने वाली पत्रिकाओं कुछ पत्रिकाओं की सूची दी जा रही है-

पत्रिका का नाम	प्रकाशन स्थल	संपादक
आदिवासी साहित्य	नई दिल्ली	गंगा सहाय मीणा
अरावली उद्घोष	उदयपुर	बीपी वर्मा पथिक
आदिवासी सत्ता	दुर्ग, छत्तीसगढ	केआर शाह
झारखंडी भाषा साहित्य, संस्कृति अखड़ा	रांची	वंदना टेटे
युद्धरत आम आदमी	दिल्ली, हजारीबाग	रमणिका गुप्ता

आदिवासी विमर्श संबंधी रचनाओं को पत्र-पत्रिकाओं के सहारे बढ़ावा देने वालों में 'तरंग भारती' की पुष्पा टेटे, 'देशज स्वर' के सुनील मिंज आदि भी उल्लेखनीय हैं। मुख्य धारा की पत्रिकाओं ने भी समय-समय पर आदिवासी विशेषांकों के जरिए इस

| ISSN: 2394-2975 | www.ijarety.in| | Impact Factor: 6.421| A Bi-Monthly, Double-Blind Peer Reviewed & Referred Journal |

|| Volume 11, Issue 1, January 2024 ||

विमर्श को आगे बढ़ाया है। इनमें 'समकालीन जनमत' (2003), 'दस्तक' (2004), 'कथाक्रम'(2012), 'इस्पातिका' (2012) आदि प्रमुख हैं।

विचार-विमर्श

आदिवासी साहित्य से अभिप्राय उस से साहित्य है जिसमें आदिवासी जीवन और समाज उनके दर्शन के अनुरूप अभिव्यक्त होता है। आदिवासी साहित्य के लिए विश्व में अलग-अलग नामों का प्रयोग हुआ है। यूरोप और अमेरिका में इसे 'नेटिव अमेरिकन लिटरेचर', 'कलर्ड लिटरेचर', 'स्लेव लिटरेचर' तथा 'अफ्रीकन-अमेरिकन लिटरेचर', अफ्रीकन देशों में 'ब्लैक लिटरेचर' और ऑस्ट्रेलिया में 'एबोरिजिनल लिटरेचर' तो अंग्रेजी में 'इंडीजिनस लिटरेचर', 'फर्स्ट पीपुल लिटरेचर' एवं 'ट्राइबल लिटरेचर' कहा जाता है। भारतीय भाषाओं में इसके लिए सामान्यत याः 'आदिवासी साहित्य' का प्रयोग किया जाता है। आदिवासी साहित्य की अवधारणा के संदर्भ में तीन प्रकार के मत दिखाई पड़ते हैं, जो इस प्रकार है -

1. आदिवासी विषय पर गैर आदिवासी लेखकों द्वारा लिखा गया साहित्य
2. आदिवासी रचनाकारों द्वारा लिखा गया साहित्य
3. 'आदिवासियत' (आदिवासी दर्शन) के तत्वों को समाहित किये हुए लिखा गया साहित्य

बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशकों में हमारे देश में नए सामाजिक आंदोलनों का उदय हुआ। स्त्रियों, दलितों एवं आदिवासियों की नवीन एकजुटता ने ऐसी माँगें और मुद्दे उठाए जो स्थापित सैद्धांतिकी तथा राजनैतिक दृष्टिकोण के माध्यम से समझे और सुलझाए नहीं जा सकते थे। इन अस्मिताओं ने अपने साथ होने वाले शोषण के लिए अपनी विशेष पहचान को आधार बताते हुए शोषण एवं भेदभाव से संघर्ष के लिए संबंधित अस्मिता को धारण करने वाले समुदायों को अपने साथ लेकर अपनी मुक्ति या अधिकारों की रक्षा के लिए सामूहिक अभियान चलाया। वंचितों के शोषण के खिलाफ उठ खड़ी हुई मुहिम में सामाजिक-राजनीतिक आंदोलनों के अतिरिक्त साहित्यिक आंदोलनों ने भी अपनी उपस्थिति दर्ज करवायी है। स्त्रीवादी साहित्य और दलित साहित्य उसी चेतना के प्रतिफल हैं। आदिवासी साहित्य जीवनवादी साहित्य है जो आदिवासियों के मूलभूत अधिकारों से बेदखल करने वाली सभ्यता के प्रति विद्रोह और अस्तिव एवं अस्मिता को बचाने के उपक्रम के रूप में सामने आया है।

आदिवासी लोक में साहित्य सहित विविध कला-माध्यमों का विकास तथाकथित मुख्यधारा से पहले हो चुका था, लेकिन वहाँ साहित्य सृजन की परंपरा लिखित रूप में न होकर मौखिक रूप में रही। ठेठ जनभाषा में होने और सत्ता प्रतिष्ठानों से दूरी की वजह से भी यह साहित्य आदिवासी समाज की तरह उपेक्षा का शिकार हुआ। आदिवासी जीवन परंपरा और समाज में 'साहित्य' जैसी कोई रूढ़ श्रेणीगत परंपरा नहीं है। नैसर्गिक रूप से वाचिक रहा आदिवासी समाज एक ऐसी सत्ता रहित सभ्यता और संस्कृति का वाहक है जिसमें 'वायदें', 'करार', 'दस्तावेज़' आदि के लिए लिखित साहित्य की आवश्यकता नहीं थी। इस संदर्भ में वाहरू सोनवणे कहते हैं कि - "लिखित ही केवल साहित्य होता है यह कहना ही आदिवासियों की दृष्टि से असंगत है। साहित्य और कला, साहित्य और जीवन के बीच जो दीवारें खड़ी हैं, उन दीवारों का आदिवासी समाज में कुछ भी स्थान नहीं है। इन व्याख्याओं को बदलना जरूरी है क्योंकि आज आदिवासी समाज में कई प्रथाएँ, लोकगीत और नाटक तथा अनेक अन्य कलाएँ विद्यमान हैं जिसे शब्दबद्ध नहीं किया गया है। हजारों वर्षों से चली आ रही परंपराएँ कभी थमी नहीं। वे परंपराएँ आज भी मौलिक रूप में आदिवासी जीवन का अभिन्न अंग रही हैं।"1 आदिवासी साहित्य का भूगोल, समाज, भाषा, संदर्भ शेष साहित्य से उसी तरह भिन्न है, जिस प्रकार स्वयं आदिवासी समुदाय। यही अलगाव या भिन्नता इनकी प्रमुख विशेषता है। दो दशक पूर्व हमारी केन्द्रीय सरकार द्वारा आरंभ की गई आर्थिक उदारीकरण की नीतियों ने बाजारवाद का रास्ता खोला। तभी से मुक्त व्यापार एवं बाजार के नाम पर मुनाफे और लूट का षड्यंत्र आदिवासियों के जल, जंगल, जमीन से भी आगे जाकर उनके जीवन को दांव पर लगा रहा है। बाजार और सत्ता के गठजोड़ ने आदिवासियों के समक्ष अस्तित्व एवं अस्मिता का संकट खड़ा कर दिया। जब सवाल अस्तित्व और अस्मिता का हो तो उसका प्रतिरोध होना भी स्वाभाविक है। सामाजिक एवं राजनीतिक प्रतिरोध के अलावा कला एवं साहित्य के माध्यम से भी प्रतिरोध किया गया। उसी के परिणामस्वरूप आदिवासी साहित्य विमर्श केंद्र में आया। रमणिका गुप्ता कहती हैं कि - "आदिवासियों को गैर आदिवासियों ने जंगली, काहिल, जाहिल, मूरख, सीधा-साधा, भोला (अपमानजनक अर्थों में) या बुद्धू कह कर, एक हीन भावना भर दी कि वे पिछड़े हैं और किसी काबिल भी नहीं हैं। धीरे-धीरे उनमें यह हीन ग्रन्थि विकसित होती गई। आदिवासी साहित्य उन्हें इस ग्रन्थि से मुक्त कराने का हथियार है।"2

देश की आजादी के बाद आदिवासी स्वायत्तता के लिए जयपाल सिंह मुंडा के नेतृत्व में भारतीय राजनीति से लेकर साहित्य तक में आदिवासी चेतना के स्वर सुनाई देते हैं। उसके बाद के आदिवासी लेखन को साहित्य के विकास क्रम के रूप में देखा जा सकता है, जिसमें समय-समय पर गैर-आदिवासी साहित्यकारों ने आदिवासी जीवन और समाज को अभिव्यक्त किया है। आदिवासियों पर जो साहित्य लिखा गया है उसमें या तो आदिवासियों के प्रति सहानुभूति का भाव है या उनके बाह्य क्रियाकलापों को दर्शाया गया है। इस संदर्भ में रमेशचंद मीणा कहते हैं कि - "आदिवासी समाज को बहुत कम लोग जानते हैं क्योंकि लोग उतना ही जानेंगे जितना उन पर लिखा गया है। हिन्दी साहित्य में बहुत से विमर्शों की तुलना में आदिवासी-विमर्श की गूँज कम दिखलाई पड़ती है।"3 हिन्दी भाषा में अधिकांश साहित्य गैर-आदिवासी रचनाकारों के द्वारा लिखा जा रहा है। वैसे आदिवासी रचनाओं एवं लेखकों की उपस्थिति बीसवीं शताब्दी के दूसरे या तीसरे दशक से मिलने लगती है, किन्तु वे रचनाएँ एवं लेखक मुख्यधारा के साहित्य में समाहित नहीं किए गये हैं। अब आदिवासियों ने स्वयं अपनी पीड़ा को अभिव्यक्त करने का लेखन कार्य किया है। आज उनमें अपनी अस्मिता की छटपटाहट और बैचेनी साफ देखी जा सकती है। जिसका परिणाम यह हुआ कि आदिवासी रचनाकार अपनी मूल भाषा में साहित्य सृजन कर रहे हैं।[7,8,9]

कोई भी साहित्यिक आंदोलन किसी तिथि विशेष से एकाएक आरंभ नहीं हो जाता। उसके उद्भव और विकास में तमाम तरह की परिस्थितियाँ महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। भारत सरकार की नई आर्थिक नीतियों ने आदिवासी शोषण-उत्पीड़न की प्रक्रिया तेज कर दी, जिसके फलस्वरूप उनके प्रतिरोध का स्वर मुखरित हुआ। समकालीन आदिवासी लेखन और विमर्श का प्रारंभ नब्बे के दशक के बाद से मानते हुए गंगा सहाय मीणा लिखते हैं कि - "1991 के बाद आर्थिक उदारीकरण की नीतियों से तेज हुई आदिवासी शोषण की प्रक्रिया के प्रतिरोधस्वरूप आदिवासी अस्मिता और अस्तित्व की रक्षा के लिए राष्ट्रीय स्तर पर पैदा हुई रचनात्मक उर्जा आदिवासी साहित्य है।"4 इस संदर्भ में सरिता देवी का मानना है कि "हिन्दी में आदिवासी साहित्य का व्यवस्थित रूप विकास सन 1990 के पश्चात् हुआ इससे पूर्व तक साहित्य के क्षेत्र में भी आदिवासी समाज पर बहुत ही कम लिखा गया था। स्वतंत्रता से पहले जो आदिवासी साहित्य लिखा गया है उसमें आदिवासी जीवन की जाँच-पड़ताल बहुत सतही एवं रोमानी दृष्टि से की गई। इस कारण आदिवासी समाज का प्रत्येक संदर्भ रेखांकित नहीं हो पाया। लेकिन बीसवीं सदी के सातवें-आठवें दशक तक आदिवासी साहित्य में जो बदलाव आया तथा उस बदलावों को चित्रित करने वाले साहित्यकारों में कुछ साहित्यकारों ने अथक प्रयास किया है एवं आदिवासी साहित्य को समाज में एक नया मोड़ दिया है।"5 आदिवासी साहित्य अस्मिता की खोज, दिकुओं के शोषण के विभिन्न रूपों के उद्घाटन तथा आदिवासी अस्तित्व एवं अस्मिता के संकट और उसके विरुद्ध हो रहे प्रतिरोध का साहित्य है। आज आदिवासियों में जो चेतना जाग्रत हुई है उसके परिणामस्वरूप नई-नई विचारधाराओं एवं क्रांतियों से उसका परिचय हुआ है। जिनके परिप्रेक्ष्य में वह अपनी नई-पुरानी स्थितियों का आंकलन करने लगा है। उसमें अपने होने या न होने, अपने अधिकारों की वर्तमान स्थिति, अपने साथ हुए भेदभाव एवं अन्याय के प्रति बोध जागा है। यही बोध उसके साहित्य में अभिव्यक्त हो रहा है।

आदिवासी साहित्य में सहानुभूति और स्वानुभूति के सवाल को लेकर निरंतर बहस जारी है। सहानुभूति के तौर पर लिखने वाले रचनाकार भी स्वानुभूति को अधिक महत्व देते हैं, इसलिए वे भोगे हुए यथार्थ पर लिखने वाले लेखकों को अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं। सहानुभूति और स्वानुभूति विवाद को लेकर दो धारणाएँ विकसित होती हैं - पहली है, भोक्ता की पीड़ा और अनुभूति की प्रमाणिकता तथा दूसरी है, स्थिति के प्रति करुणा और सहानुभूतिपरक दृष्टि। अनुभूति की प्रमाणिकता को स्पष्ट करते हुए भीष्म साहनी लिखते हैं कि - "मेरी नजर में उसी रचना में खरापन होगा, जिसके सृजन में लेखक का समूचा सर्जनात्मक व्यक्तित्व यानी उसका संवेदन, उसकी कल्पना, उसका चिंतन और उसकी दृष्टि सक्रिय होते हैं। पर जहाँ तक लेखक के सृजन का सवाल है, किसी सीमा तक ही इन अपेक्षाओं की उपयोगिता रहती है। क्योंकि मूलतः लेखक का संवेदन ही उसे रास्ता सुझाता है। लेखक का सर्जनात्मक व्यक्तित्व इन अपेक्षाओं से नहीं बनता, वह उसके अपने संस्कारों, अनुभवों, चिंतन, पठन-पाठन और उसकी सूझ से बनता है। हाँ, जिस माहौल में वह जीता और साँस लेता है, उस माहौल के प्रति वह निश्चय ही उत्तरोत्तर सचेत होता जाता है।"6

आदिवासियों के हितों के लिए लिखा गया साहित्य ही सही अर्थों में आदिवासी साहित्य होता है, चाहे वह स्वानुभूति का हो या सहानुभूति का। लेकिन आदिवासी लेखक और चिंतक इस बात से पूर्णतः सहमत नहीं होते हैं। वे गैर-आदिवासी लेखकों द्वारा रचे गए साहित्य को 'आदिवासी चेतना' या आदिवासी सहानुभूति का साहित्य कहकर नकार देते हैं। इसके पीछे उनका तर्क है कि आदिवासी की पीड़ा, दुःख-दर्द को वह स्वयं ही जान सकता है और वही पूरी ईमानदारी से इसको अभिव्यक्त कर सकता है। गैर-आदिवासियों के रचना-संसार में दृष्टा की सहानुभूति और करुणा हो सकती है, भोक्ता की पीड़ा और अनुभूति की सच्चाई नहीं हो सकती है। इसके लिए आदिवासी जीवन की समझ और दृष्टि का विकसित होना अत्यंत आवश्यक है। इस संदर्भ में रमणिका गुप्ता कहती हैं कि - "गैर-

आदिवासी भी संवेदना और सहानुभूति से उनके लिए साहित्य लिखे, तो कौन मना करता है उन्हें ? पर यह उनका अनुभवजन्य साहित्य प्रामाणिक आदिवासी साहित्य नहीं माना जा सकता है। इसे उनके महसूस करने की, उनके अहसासों की अभिव्यक्ति माना जा सकता है, सहानुभूति का साहित्य कहा जा सकता है।"7 दरअसल साहित्य रचनात्मक विधा है, जिसके सृजन का सभी को समानाधिकार है। लेकिन बाहरी सहानुभूति की चेतना मात्र से उसमें सम्मिलित नहीं हुआ जा सकता है। गैर-आदिवासी रचनाकारों के लेखन में आदिवासियों के प्रति सच्ची सहानुभूति, संवेदना और उनकी मुक्ति की चिंता एवं चेतना है तो उसे 'आदिवासी साहित्य' मानने में किसी भी प्रकार की कठिनाई नहीं होनी चाहिए।

आदिवासी साहित्य विमर्श के ऐतिहासिक एवं भौतिक कारण हैं। देश की स्वतंत्रता से पहले आदिवासियों की मूल समस्याएँ वनोपज पर प्रतिबंध, तरह-तरह के लगान, महाजनी शोषण, पुलिस-प्रशासन की ज्यादतियाँ आदि हैं, जबकि आजादी के बाद सरकार द्वारा अपनाए गए विकास मॉडल ने आदिवासियों से उनके जीविकोपार्जन के साधन छीनकर बेदखल कर दिया। विस्थापन उनके जीवन की मुख्य समस्या बन गई। इस प्रक्रिया के परिणामस्वरूप जहाँ एक ओर आदिवासियों की सांस्कृतिक पहचान नष्ट हो रही है, वहीं दूसरी तरफ उनके अस्तित्व की रक्षा का सवाल खड़ा हो गया है। यदि वे अपना अस्तित्व बचाते हैं तो उनकी सांस्कृतिक पहचान खत्म हो रही है और यदि वे सांस्कृतिक पहचान बचाते हैं तो उनके अस्तित्व पर संकट खड़ा हो जाता है। सामाजिक व्यवस्था की संरचना के अंतर्गत व्यक्तित्व, संस्कृति तथा समाज का संयुक्त स्वरूप दिखाई देता है। आदिवासी समाज अपनी पृथक पहचान की सीमाओं को तोड़कर भौतिक विकास को अपनाते हुए शेष समाज के साथ अंतर्क्रिया करते हुए राष्ट्रीय समाज का अंग बनता है। कार्ल मार्क्स कहते हैं कि - "किसी भी समाज में परिवर्तन के लक्षण भीतर से हो, उसके पहले ही उस पर बाहर से परिवर्तन लाद दिया जाये तो वह समाज एक किस्म के सांस्कृतिक अवसाद में (**Cultural Melancholy)** जीने को बाध्य हो जाता है।"8 आदिवासी साहित्य विमर्श मुख्यतः अस्तित्व और अस्मिता का विमर्श है। जिसके माध्यम से आदिवासी समाज की सभ्यता, संस्कृति के साथ-साथ उन पर हो रहे अन्याय, अत्याचार, अपमान, शोषण आदि विभिन्न पहलुओं को अभिव्यक्त किया जा रहा है। विभिन्न रास्तों से गुजरते हुए आदिवासी लेखन एक विस्तृत सांस्कृतिक विमर्श का अंग बन रहा है।[10,11,12]

आदिवासी साहित्य की पृष्ठभूमि के रूप में आदिवासी समाज की हजारों साल पुरानी साहित्य की मौखिक या वाचिक परंपरा को रखा जा सकता है, जिसे पुरखा साहित्य कहा जाता है। वाचिक परंपरा में उपलब्ध आदिवासी साहित्य जहाँ प्रकृति और प्रेम के विविध रूपों के साथ रचाव और बचाव का साहित्य है, वहीं समकालीन आदिवासी लेखन शोषण के विविध रूपों के उद्घाटन तथा आदिवासी अस्तित्व और अस्मिता के संकटों एवं उनके खिलाफ हो रहे संघर्ष का साहित्य है। डॉ. गोपीराम शर्मा लिखते हैं कि - "आदिवासी साहित्य जीवनवादी साहित्य है। इसमें आदिवासियों के मूलभूत हकों से बेदखल करने वाली सभ्यता के प्रति विरोध की आवाज है। यह साहित्य आदिवासियों के अस्तित्व को बचाने के उपक्रम के रूप में सामने आया है।"9 हिन्दी कथा साहित्य में आदिवासी समाज के शोषण, उत्पीड़न, तनाव एवं बेचैनियों को स्थान मिला है। आदिवासी साहित्य में विकास की प्रक्रिया से टकराते आदिवासी समुदाय के जीवन संघर्ष का सजीव चित्रण मिलता है। आदिवासी साहित्य की विषय-वस्तु क्रांतिकारी भावना का स्रोत बनकर परिवर्तनकामी सोच को साकार रूप देने में प्रयोग की जा रही है। इस संदर्भ में गंगा सहाय मीणा लिखते हैं कि - "यह उस परिवर्तनकामी चेतना का रचनात्मक हस्तक्षेप है जो देश के मूल निवासियों के वंशजों के प्रति किसी भी प्रकार के भेदभाव का पुरजोर विरोध करती है तथा उनके जल, जंगल, जमीन और जीवन को बचाने के हक में उनके 'आत्म निर्णय' के अधिकार के साथ खड़ी होती है।"10 आदिवासी साहित्य रचाव-बचाव का साहित्य होने के साथ-साथ आदिवासी जीवन-दर्शन और कई मायनों में शेष साहित्य से अलगाव रखने वाला साहित्य है। आदिवासी साहित्य विविध परंपरा एवं कला रूपों का एक समुच्चय है, जिसमें सभी कला विधाओं के साथ-साथ प्रकृति की भी एक प्रमुख और सुनिश्चित भूमिका होती है अर्थात् वहाँ कलाओं का आपस में अन्योन्याश्रित संबंध होता है। इस संदर्भ में वंदना टेटे का कहना है कि - "आदिवासी साहित्य मूलतः सृजनात्मकता का साहित्य है। यह इंसान के उस दर्शन को अभिव्यक्त करने वाला साहित्य है जो मानता है कि प्रकृति सृष्टि में जो कुछ भी है, जड़-चेतन, सभी कुछ सुंदर है। ...वह दुनिया को बचाने के लिए सृजन कर रहा है। उसकी चिंताओं में पूरी सृष्टि, समष्टि और प्रकृति है। जिसका एक प्रमुख अंग इन्सान भी है।"11 आदिवासी साहित्य एक आयामी नहीं है, वह बहुआयामी है। जिसमें हमें विविध कलात्मक अभिरूचियों एवं प्रदर्शनों का सामूहिक सहजीवन का प्रस्तुतीकरण दिखाई देता है। आदिवासी साहित्य एक जीवंत परंपरा है, क्योंकि इसका आधार वाचिकता है जो शब्दों के नये प्रयोग और अनुभव से सदैव नवीनतम बना रहता है।

आदिवासी लेखन विविधताओं को अपने अंदर समेटे हुए है। समृद्ध मौखिक साहित्य परंपरा का लाभ भी आदिवासी साहित्यकारों को मिला है। उपन्यास, कहानी, कविता, नाटक, यात्रा वृत्तांत आदि प्रमुख विधाओं में आदिवासी एवं गैर-आदिवासी रचनाकारों ने आदिवासी जीवन और समाज का चित्रण प्रस्तुत किया है। आदिवासी समाज 'आत्म' से अधिक सामूहिकता में विश्वास करता है, अतः उसकी

| ISSN: 2394-2975 | www.ijarety.in| | Impact Factor: 6.421| A Bi-Monthly, Double-Blind Peer Reviewed & Referred Journal |

|| Volume 11, Issue 1, January 2024 ||

परंपरा, संस्कृति, इतिहास से लेकर शोषण और प्रतिरोध आदि में सामूहिक जीवन की अभिव्यक्ति होती है। स्त्री-विमर्श एवं दलित-विमर्श की भाँति आदिवासी साहित्य में आत्मकथात्मक लेखन की कोई केन्द्रीय विधा नहीं है। इस संदर्भ में गंगा सहाय मीणा का मानना है कि - "आदिवासी लेखन में आत्मकथात्मक लेखन केन्द्रीय स्थान नहीं बना सका क्योंकि स्वयं आदिवासी समाज 'आत्म' से अधिक समूह में विश्वास करता है।"12

हिन्दी में आदिवासी साहित्य की अवधारणा का विकास हो रहा है। जिसके अंतर्गत परंपरा और आधुनिकता का, विकास और विनाश का, मुख्यधारा की संस्कृति और आदिवासी मूल्यबोध, अस्तित्व, अस्मिता का जो द्वंद्व है, उन सबके बीच 'आदिवासी संस्कृति, राजनीति, साहित्य' की एक नई अवधारणा का निर्माण हो रहा है। जीवन की जटिलता और प्रकृति से लगाव ही उसके साहित्य का मूलाधार है। क्योंकि कोई भी अभिव्यक्ति 'स्व' के बिना निर्मित नहीं हो सकती है। आदिवासी साहित्य जीवन का साहित्य है। वह प्रकृति का सहयोगी, सह अस्तित्व का समर्थक, ऊँच-नीच, भेदभाव एवं छल-कपट से दूर है। वह संपत्ति संकलन या जमाखोरी की भावना से मुक्त है। आदिवासी सामाजिक न्याय का पक्षधर होने के साथ-साथ अन्याय का विरोधी है। उसके साहित्य में इन्हीं सब बातों का समावेश होता है। आदिवासी आदिवासी समाज और जीवन-दर्शन को समझने की दिशा में सबसे महत्वपूर्ण दस्तावेज़ 'राँची घोषणा-पत्र'13 है। जिसके अनुसार आदिवासी साहित्य का स्वरूप आदिवासी दर्शन के अनुरूप होना चाहिए। इसके मूल तत्व हैं -

"1. प्रकृति की लय-ताल और संगीत का जो अनुसरण करता हो।
2. जो प्रकृति और प्रेम के आत्मीय संबंध और गरिमा का सम्मान करता हो।
3. जिसमें पुरखा-पूर्वजों के ज्ञान-विज्ञान, कला-कौशल और इंसानी बेहतरी के अनुभवों के प्रति आभार हो।
4. जो समूचे जीव जगत की अवहेलना नहीं करें।
5. जो धनलोलुप और बाजारवादी हिंसा और लालसा का नकार करता हो।
6. जिसमें जीवन के प्रति आनंदमयी अदम्य जिजीविषा हो।
7. जिसमें सृष्टि और समष्टि के प्रति कृतज्ञता का भाव हो।
8. जो धरती को संसाधन की बजाय माँ मानकर उसके बचाव और रचाव के लिए खुद को उसका संरक्षक मानता हो।
9. जिसमें रंग, नस्ल, लिंग, धर्म आदि का विशेष आग्रह न हो।
10. जो हर तरह की गैर-बराबरी के खिलाफ हो।
11. जो भाषाई और सांस्कृतिक विविधता और आत्मनिर्णय के अधिकार के पक्ष में हो।
12. जो सामंती, ब्राह्मणवादी, धनलोलुप और बाजारवादी शब्दावलियों, प्रतीकों, मिथकों और व्यक्तिगत महिमामंडन से असहमत हो।
13. जो सहअस्तित्व, समता, सामूहिकता, सहजीविता, सहभागिता और सामंजस्य को अपना दार्शनिक आधार मानते हुए रचावबचाव में यकीन करता हो।
14. सहानुभूति, स्वानुभूति की बजाय सामूहिक अनुभूति जिसका प्रबल स्वर-संगीत हो।
15. मूल आदिवासी भाषाओं में अपने विश्वदृष्टिकोण के साथ जो प्रमुखतः अभिव्यक्त हुआ हो। "14

आदिवासी साहित्य सिर्फ शब्दों में लिखित कल्पना, अनुभव, भाव, विचार और यथार्थ की कलात्मक स्वानुभूति या सहानुभूति की अभिव्यक्ति नहीं है, बल्कि यह मानवीयता सहित समस्त जीव-जगत, प्रकृति और समष्टि का जीवंत दस्तावेज है जो आध्यात्मिक अनुष्ठानों, दैनिक क्रियाकलापों और विविध कलात्मक अभिरूचियों एवं अभिव्यक्ति के विभिन्न रूपों के माध्यम से निरंतर प्रदर्शित होता रहता है। डॉ. नाजिश बेगम लिखती है कि - "आदिवासी साहित्य में आत्मसजग अभिव्यक्तियों का एक ऐसा प्रखर स्वर सम्मिलित है, जो दीर्घ समय से शोषित, उत्पीड़ित और वंचित आदिवासी समाज की चेतना को दिन ब दिन तीव्र और प्रखर बना रहा है। लेखकों ने कविता-कहानी, उपन्यास और नाटकों में आदिवासी जन-जीवन के यथार्थ चित्र प्रस्तुत किए हैं।"15 समकालीन आदिवासी साहित्य ने उदारवादी वैश्विक परिदृश्य में समस्याओं से जूझते आदिवासियों के जीवन-संघर्ष एवं चुनौतियों को भी सामने रखा है। आदिवासी साहित्य प्रायः मौखिक रूप में ही परंपरानुसार पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरित होता रहा है, किन्तु आज समाज में उनकी अभिव्यक्तियाँ लिखित रूप में यथार्थ निरूपण का पुष्ट आयाम बनकर उभरी है। वर्तमान में आदिवासी जीवन और चेतना से संबंधित साहित्य एवं आलोचना साहित्यिक संसार में अपनी पैठ बनाने के दौर से गुजर रही है।[12,13]

परिणाम

| ISSN: 2394-2975 | www.ijarety.in| | Impact Factor: 6.421| A Bi-Monthly, Double-Blind Peer Reviewed & Referred Journal |

|| Volume 11, Issue 1, January 2024 ||

आदिवासी की चिंता जल, जंगल, जमीन, भाषा और संस्कृति की है जो आदिवासी अस्मिता के लिए आवश्यक है। आदिवासी को सहज ही असभ्य और बर्बर समझ लिया जाता है। उसकी सभ्यता और संस्कृति को ना तो समझने की कोशिश की जाती है और ना ही उसके साथ सहृदयता के साथ व्यवहार किया जाता है। बाहरी स्वरूप और आवरण के आधार पर परिभाषा गढ़ दी जाती है, जो यथार्थ से बिल्कुल दूर की बात होती है। "आदिवासी देश के मूल निवासी माने जाने वाले तमाम आदिम समुदायों का सामूहिक नाम है। इस संदर्भ में यह विचारणीय है कि आदिवासी पद का 'आदि' उन समुदायों के आदिम युग तक के इतिहास का द्योतक है।"[1] आर्यों के आने से पूर्व भारत के घने जंगलों में, पहाड़-पर्वतों में, घाटियों-दर्रों में आदिवासी अपना जीवन जी रहे थे। उस जंगल पर, उस हिस्से पर आदिवासी का ही अधिकार था, उसकी सत्ता थी। फल-फूल, लकड़ी, शिकार के लिए उसे किसी से स्वीकृति लेने की आवश्यकता नहीं थी। खैबर दर्रे से जब आर्य भारत आए तो वे अपने साथ रथ, बर्छी, कुल्हाड़ी, गाय, घोड़े, ढोरों की फौज लेकर आए और पहला हमला उन्होंने आदिवासियों पर किया।[2] इस तरह गोरे आर्यों ने काले आदिवासियों को अपने अधीन कर लिया। चमड़ी का रंग वर्ण का स्वीकृत अर्थ हो गया और यह चीज जिसे भारतीय इतिहास का आरंभ कहा गया उसकी आधारशिला बन गई।[3] आर्य अपने पास उपलब्ध घोड़ों और शस्त्रों के बल पर आदिवासियों के जंगल व जमीन पर अतिक्रमण करने लगे तथा उन्हीं के जंगलों और जमीनों से निकाल बाहर करने लगे। आर्य यज्ञ करते थे और यह 'हिस्सा हमारा हुआ' ऐसी घोषणा करते थे। आदिवासियों के प्रतिकार करने पर उन्हें असुर, राक्षस कहकर कत्ल किया गया।[4] आर्यों के आगमन के पश्चात् ही सही अर्थों में आदिवासियों की दुर्दशा का प्रारंभ हुआ। सैकड़ों वर्ष बीत गए पर आज भी अधिकांश आदिवासी जंगलों, वनों और गिरिकुहरों में समूहों में रहकर जीवनयापन कर रहे हैं।

आज आदिवासी शब्द के उच्चारण से ही अनेको बिंब सहज ही बनने लगते हैं। प्रत्येक सदी से छला-सताया, नंगा किया और सोची-समझी साजिश के तहत वन-जंगलों में जबरन भगाया जाता रहा मनुष्य। वह मनुष्य जो अपनी स्वतंत्र परंपरा सहित, सहस्र वर्षों घने जंगलों में रहनेवाला संदर्भहीन मनुष्य है। जो एक विशेष पर्यावरण में अपनी सामाजिक तथा सांस्कृतिक मूल्यों को जान की कीमत पर संजोये, प्रकृतिनिष्ठ, प्रकृति-निर्भर, कमर पर बित्ते भर चिंदी लपेटे, पीठ पर आयुध लेकर, लक्ष्य की खोज में शिकारी बना, मारा-मारा भटक रहा है। कभी राजनीतिक तथा सांस्कृतिक वैभव से इतराने वाला यह कर्तव्यशील मनुष्य, परंतु वर्तमान में लाचार, अन्यायग्रस्त तथा पशुवत् जीवन यापन करनेवाला मनुष्य वेदना से लोकाचार है। सूर्यास्त के साथ-साथ गिरिकुहरों में उसकी हलचल बंद हो जाती है। सूर्योदय के साथ-साथ भोजन की खोज में वन की संकरी, कंटीली पगडंडियों पर उसके नंगे पैर चलने लगते हैं। जंगल में भोजन के लिए घूम-घूमकर थके उसके पैर, चिलचिलाती धूप में तपी उसकी पीठ, यदि भोजन मिल भी जाए तो कंधे पर शिकार का बोझ यही है आधुनिक भारत में आदिवासी का करुणापूर्ण दृश्य! दिनभर भटकने के बाद आई थकान को दूर करने के लिए थोड़ी-सी रोशनी में मस्त महफिल लगाई जाती है। उस संगीत-महफिल में आदिवासी स्त्री-पुरुष, बच्चे, युवक-युवतियां तथा बड़े-बूढ़े सामूहिक रूप से नृत्य करते हैं, गाते हैं और अपने सांस्कृतिक मूल्यों को संजोये रखते हैं। ये मूल्य ही उनके सामूहिक जीवन की विशेषताएं हैं। उनकी सांस्कृतिक समूह चेतना ही, उनके समूह-जीवन की आधारशिला है।[5] इस विकासमान मानव के प्रति लोगों में विभिन्न धारणाएं बनी हुई हैं- "अधनंगे रहने के कारण या लंगोटी पहने शिकार के लिए जंगल-जंगल भटकने से भी उन्हें 'भूमिपुत्र' या 'वनपुत्र' कहना समीचीन समझते हैं। आजकल 'आदिपुत्र' जैसे नामों का प्रयोग भी उनके लिए किया जा रहा है। जंगल के 'अनाभिषिक्त राजा' के रूप में भी उनका उल्लेख किया जाता है।"[6] युगों से आदिवासी समाज को किसी पराए सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक नियमों के तहत बंधने का कोई भी प्रयास पसंद नहीं था। आदिवासी समाज को जो कुछ भी प्राप्त था, वह सब कुछ प्रकृति द्वारा प्रदत्त था। इसी प्राकृतिक विचारधारा से ओतप्रोत वह भूमि, खेत-खलिहान, जल, जंगल, नदी, पहाड़, जीवन जीने की स्वतंत्रता आदि को प्रकृति का दिया हुआ मानता रहा है और कोई राजा, साम्राज्य अथवा किसी शासकीय सत्ता को कभी भी इसका मालिक नहीं माना। आज "आदिवासी लोग ऐतिहासिक रूप से विकसित और जैविक रूप से स्वतः आगे बढ़ने वाली इकाइयां हैं, जो कुछ खास सांस्कृतिक विशेषताओं द्वारा लक्षित होती हैं और जो मुख्यधारा के समाज और उसकी संस्थाओं द्वारा कई तरह से दबाई जाती हैं, और जो लंबे समय से अपनी विशिष्टताओं और अस्तित्व के लिए बुनियादी सीमाई संसाधनों के संरक्षण व उनकी बढ़ोतरी के संघर्ष में लगे रहे हैं। इस मायने में वे कारगरता और चरित्र, दोनों ही अर्थों में देशज लोगों के समान हैं। इसलिए अगर हम आज देशज और आदिवासी पदों का पर्याय के रूप में प्रयोग करें तो कोई खास मुश्किल नजर नहीं आती। हां, दोनों पदों के इस्तेमाल का ऐतिहासिक संदर्भ हमेशा याद रखना होगा। हमें याद रखना होगा कि 'आदिवासी' भारतीय भूमि पर निवास कर रहे देश के मूल निवासियों या आदि निवासियों के वंशजों के रूप में मान्य तमाम लोगों/समुदायों के लिए इस्तेमाल होने वाला एक व्यापक पद है।"[7] आदिवासी का अर्थ समाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक समूह है, जिसकी स्वायत्तशासी व्यवस्था होती है। स्वतंत्र एवं सौहार्दपूर्ण जीवन व्यतीत करने की चेतना प्रकृति प्रदत्त शाद्वल कुंजों से प्राप्त करता है तथा विभिन्न जीवों के साथ आत्मीयता और संसर्ग स्थापित करने वाला विकासमान मानव है।

जातीय स्वरूप

भारत जैसे बड़े देश में अनेक आदिवासी जातियां निवास करती हैं। लेकिन सबकी पहचान एक जैसी नहीं है। भौगोलिक भिन्नता के कारण आदिवासियों की सामाजिक, सांस्कृतिक तथा भाषाई विशिष्टताएं भी भिन्न-भिन्न हैं। भौगोलिक दृष्टि से भारतीय आदिवासी जातियों

| ISSN: 2394-2975 | www.ijarety.in| | Impact Factor: 6.421| A Bi-Monthly, Double-Blind Peer Reviewed & Referred Journal |

|| Volume 11, Issue 1, January 2024 ||

को कई भागों में विभाजित किया गया है। भौगोलिक वितरण को ध्यान में रखकर सर्वप्रथम बी. एस. गुहा (1951) ने आदिवासियों को तीन जनजातिय क्षेत्रों में विभक्त किया है-

1. पश्चिम क्षेत्र : इस क्षेत्र के पश्चिम की ओर शिमला व लेह है पूर्व की ओर लुशाई पर्वत और मिश्मी मार्ग है। इस क्षेत्र में जनजाति समुदाय पूर्वी कश्मीर, पूर्वी पंजाब, हिमाचल प्रदेश, उत्तरी उत्तर प्रदेश, असम तथा सिक्किम में पाये जाते हैं। इस क्षेत्र की मुख्य जनजातियां रांभा, खासी, अका, डफला, मिरी, अपातानी, नागा, कुकी, लुसाई, लेपचा, गारो, गैलोंग, जौनसारी, लरवरी, कर्णफूली, थारु, व लाम्बा हैं।

2.मध्यवर्ती क्षेत्र : इस क्षेत्र के अन्तर्गत बिहार, बंगाल, दक्षिणी उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, दक्षिणी राजस्थान, उत्तरी महाराष्ट्र एवं उड़ीसा आते हैं। इस क्षेत्र की प्रमुख जंजातियाँ - संथाल, उरांव, हो, खोंड, भूमिज, लाधा, कोरा, गोंड, बैगा, भील, मीना, दामर आदि हैं।

3.दक्षिणी क्षेत्र : इस क्षेत्र के मुख्य जनजातीय प्रदेश हैदराबाद, मैसूर, आंध्रप्रदेश, तमिलनाडु और कोचीन है। अनेक जनजातियां अण्डमान-निकोबार द्वीप समूह में निवास करती हैं। इन क्षेत्रों की प्रमुख जनजातियां चेंचू, इरुला, बनियन, कादर, टोडा, कोटा तथा पुलयन आदि हैं।[8]

डी. एन. मजूमदार ने भौगोलिक आधार पर जनजातियों का वर्गीकरण बी. एस. गुहा के ही वितरण आधार को स्वीकार करते हुए आदिवासी जातियों को तीन भागों में वितरित किया है। श्यामाचरण दुबे (1960) ने आदिवासी प्रधान क्षेत्रों को चार भागों में बांटा है-

1.उत्तर तथा उत्तर-पूर्वी क्षेत्र : उत्तर में शिमला, लेह, लुशाई की पहाड़ीयां तथा पिरमी का प्रदेश आता है। कश्मीर का पूर्वी भाग, पूर्वी पंजाब, उत्तर प्रदेश, असम, तथा सिक्किम भी इसी भाग में आते हैं। इस प्रदेश की उल्लेखनीय जनजातीयां लेपचा, डफला, पिरमी, गारो, खासी, नागा, कुकी, अबोर, चकमा, गुरुंग आदि हैं। ये जनजातियां सीमांत प्रदेश में बसी होने के कारण बहुत मत्वपूर्ण हैं। लेपचा जनजाति सिक्किम और सीमावर्ती भारतीय क्षेत्रों में पाई जाती है। इस क्षेत्र की अनेक जनजातियां अपनी विशेषता बनाये हुए हैं। जैसे भोटिया आदिवासी प्रसिद्ध व्यापारी होने के साथ-साथ हस्तकला में भी अत्यंत निपुण हैं। थारू जनजाजि में स्त्रियों में जादू की कुशलता सर्वविदित है। नागा जनजाति ने भारतीय राजनीति में ऐतिहासिक भूमिका निभाई है। ये अपनी वीरता तथा युद्ध कुशलता के लिए प्रसिद्ध हैं। मणिपुर, त्रिपुरा और चटगांव के पर्वतीय प्रदेश से लेकर बर्मा की अराकान पहाड़ियों तक कुकी, लुशाई, लाखेर और विन आदि जनजातियां रहती हैं। ये जनजातीय समूह तिब्बती तथा चीनी भाषा बोलते हैं। कुछ प्राचीन जनजातियां सिक्किम और दार्जिलिंग के उत्तरी भागों में रहती हैं जिनमें लेपचा तथा गलौंग विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इस क्षेत्र में निवास करने वाली गारो तथा खासी जनजातियों में मातृ सत्तात्मक परिवारों का प्रचलन है। देश के इस भू-भाग में रहने वाले समूह सीढ़ीनुमा खेतों पर कृषि कार्य करते हैं। कुछ समूह छोटे करघों पर बुनाई कला में भी निपूर्ण होते हैं।

2.पश्चिमी तथा उत्तर पश्चिमी क्षेत्र : इस क्षेत्र में पंजाब, राजस्थान, महाराष्ट्र, तथा गुजरात की जनजातियां आती हैं। राजस्थान की जनजातियों में भील, गरासिया, मीना, तथा बंजारे प्रमुख हैं तथा गुजरात में महादेव कोली, कटकरी, वर्ली तथा डबला प्रमुख जनजातियां हैं।

3.मध्यवर्ती क्षेत्र : इस क्षेत्र में देश की सर्वाधिक जनजातीय संख्या निवास करती है। इसमें बिहार के संथाल, मुंडा, उरांव, बिरहोर, गोंड, उड़ीसा के बोंदो, खोंड, सोरा तथा ज्वांग, मध्यप्रदेश के गोंड, बैगा, कोल, कोरकू, कमार, भूमिया आदि आते हैं। मध्यप्रदेश के गोंड सागर तथा बस्तर जिले में बहुतायत से पाये जाते हैं। छत्तीसगढ़ के कमार, रीवाँ के बैगा, मंडला के भूमिया और महादेव पहाड़ी के कोरकू भी इसी क्षेत्र में पाये जाते हैं।

4.दक्षिणी क्षेत्र: इस क्षेत्र में मैसूर, ट्रावनकोर, कोचीन, आंध्रप्रदेश, तमिलनाडु, कर्नाटक तथा केरल की जनजातियां सम्मिलित की जाती हैं। इस प्रदेश में पाये जाने वाले जनजातीय समूहों में नीलगिरी के टोडा, वायनाड के बनियन तथा कादर, हैदराबाद के चेंचू एवं कुरोवन हैं। इसके अतिरिक्त चेट्टी, इरुला, कुरिचमा, कुरुम्बा तथा कैनी जनजातियां भी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।[9]

अंडमान तथा निकोबार द्वीप समूहों में अनेक जनजातीय समूह पाये जाते हैं। उनमें अंडमानी, ओंग, जारवा, सेण्टेनेली अण्मान द्वीप-समूह में पाए जाते हैं। 'अण्मानी' मुख्य रूप से स्टेट आइलैण्ड में, 'ओंग' ड्यूगोंग क्रीक तथा छोटे अण्मान की दक्षिणी खाड़ी के द्वीपों में, 'जारवा' दक्षिण एवं मध्य अण्डमान के पश्चिमी तटीय भाग में तथा 'सेण्टेनेली' आदिवासी उत्तरी सेंटेनेल द्वीप में पाए जाते हैं। ये सभी चारों जनजातीयां निग्रिटा प्रजाति की हैं। निकोबार द्वीप समूह की दोनों जनजातियां अर्थात् शोमपेन एवं निकोबारी 'मंगोल' प्रजाति की हैं। इनमें से 'शोमपेन' बड़े निकोबार द्वीप में और 'निकोबारी' निकोबार-द्वीप समूह के शेष द्वीपों में बिखरे हुए हैं। सभ्य दुनिया के प्रतिमानों की दृष्टि से 'निकोबारी' जनजाति सर्वाधिक विकसित है जो स्थायी बाशिंदों के रूप में रह रही है। जबकि शेष पांचों जनजातियां अभी भी आखेटावस्था में समूहों में घुमक्कड़ी जीवन-शैली अपनाए हुए हैं।[10] इस प्रकार संपूर्ण भारत में फैली जनजातियों के विश्लेषण का एक

| ISSN: 2394-2975 | www.ijarety.in| | Impact Factor: 6.421| A Bi-Monthly, Double-Blind Peer Reviewed & Referred Journal |

|| Volume 11, Issue 1, January 2024 ||

आधार भौगोलिक भी माना जाता है। भौगोलिक परिस्थितियां अपनी विशिष्ट जलवायु तथा प्राकृतिक स्रोतों के परिणामस्वरूप इन क्षेत्रों में रहने वाले जनजातीय समुदायों की संस्कृति, रहन-सहन, वेशभूषा तथा आर्थिक गतिविधियों को प्रभावित करती हैं।

बहुत-सी आदिवासी जातियां हैं जो खानाबदोशी जीवन व्यतीत कर रही हैं। ये भोजन की तलाश में एक स्थान से दूसरे स्थान पर निरंतर घुमंतू का स्वरूप धारण की हुई नजर आती हैं। घुमंतू जातियों में 'बावड़िया' अथवा 'बौड़ी', जो विशेष रूप से पश्चिम बंगाल, उड़ीसा तथा राजस्थान में है। ये लोग पंजाब, उत्तर प्रदेश तथा आंध्रप्रदेश में भी पाए जाते हैं। 'अहेरिया', जो राजस्थान तथा दिल्ली के आस-पास के क्षेत्र में निवास करते हैं। ये चटाइयां बनाने का काम करते हैं। 'बहेलिया' आदिवासी प्रमुख रूप से उत्तर प्रदेश में पाए जाते हैं। बिहार में इन्हें 'मूला' जनजाति के नाम से जाना जाता है। पक्षी पकड़ना तथा उन्हें बेचना इनका प्रमुख व्यवसाय है। 'सहरिया' बुंदेलखंड तथा उसके आस-पास के क्षेत्रों की जनजाति है। 'लोढा' और 'तुरी' पश्चिम बंगाल तथा बिहार में पाई जाने वाली जनजातियां हैं।[11] 'रजवार' तथा 'मुसाहर' बिहार में कृषि कार्य में श्रमिक के रूप में कार्य करते हैं। 'भार' पश्चिम बंगाल, बिहार, उत्तर प्रदेश में रहते हैं तथा ये हिन्दूकृत हो चुके हैं। 'बगदी' और 'बेदिया' मध्य प्रदेश तथा पश्चिम बंगाल की घुमंतू जनजाति है। 'परधी' आदिवासी के लोग महाराट्र के खानादेश क्षेत्र में निवास करते हैं। मध्य प्रदेश में भी हैं और कई जातियों में विभक्त हैं- 'टकिया परधी', 'लंगोली परधी' तथा 'शिकारी परधी' आदि।1[12]'मांग गरुड़ी' दक्षिण भारत के कर्नाटक में रहते हैं। 'कैकड़ी' दक्षिण भारत की घुमंतू जनजाति है।

कुछ पेशेवर घुमंतू जनजातियां हैं, जो विभिन्न क्षेत्रों में विशेष रूप से रहती हैं: 'भगत'- कश्मीर, 'बहुरूपिया'- पंजाब,[13] 'गोंडहाली'- महाराष्ट्र, 'बंजारा' तथा 'ढोली'- राजस्थान, 'तुरहिया'- उत्तर प्रदेश, 'नट' तथा 'बाजीगर'- पंजाब, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश व बिहार, 'सांसी'- बंगाल, 'मिरासी'- पंजाब, 'कंजर'- राजस्थान तथा उत्तर प्रदेश, 'थोड़ी'- गुजरात, 'बरगुडा'- मध्य भारत की जनजाति है।[14]अनेक घुमंतू जनजातियों का जीवन बहुत ही निम्न स्तर का है। विमुक्त घुमंतू और अर्ध घुमंतू जनजातियों के मामले में कई तरह की बाधाएं हैं। उनकी जनसंख्या कितनी है, इसके प्रमाणिक आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं। खानाबदोशी जिंदगी बिताने के कारण साक्षरता के मामले में ये बेहद पिछड़े हुए हैं। इनकी सामाजिक व आर्थिक दशा पर व्यापक अध्ययन की जरूरत है। विभिन्न दृष्टियों से आदिवासी जातियों का अध्ययन किया गया है। डी. एन. मजूमदार, बी. एस. गुहा तथा श्यामाचण दुबे के द्वारा किये गए भौगोलिक दृष्टि के अंतर्गत विभाजित जातियों में 'कंवर' तथा 'पाण्डो' आदिवासी का नाम नहीं आता है। ये दोनों आदिवासी जातियां ऐतिहासिक संदर्भ प्रकट करती हैं। 'कंवर' आदिवासी "महानदी के उत्तरी पहाड़ी क्षेत्रों में निवास करने वाली यह जनजाति अपनी उत्पत्ति महाभारत के कौरव वंश से मानती है।"[15] 'कंवर' जनजाति के लोग मुख्यतः छत्तीसगढ़ी सोनघाटी और उसके पड़ोस (उत्तरी बिलासपुर जिले का पठारी भाग) तथा सरगुजा जिले की सोनघाटी तथा उसके पड़ोस में बसे हैं, इसलिये इस क्षेत्र को कभी-कभी कंवरान भी कहा जाता है। कंवरान के अनेक पहाड़ी राज्यों के जमींदार इस जनजाति के रहे हैं। बिलासपुर की अनेक जमींदारियां इनके अधीन रही है जिनमें छुरी, भूतीडीह और गुंडरदेही की जमींदारी उल्लेखनीय है।[16] 'पाण्डो' आदिवासी की जनसंख्या का अधिकतम भाग मध्यप्रदेश के सरगुजा जिले में रहता है।[17]ये जनजाति महाभारत के पाण्डव राजाओं का वंशज होने का दावा करती है। पाण्डो जनजाति पाण्डव राजाओं के जीवन के उस भाग को ही महत्व देती है जो उन्होंने चैदह वर्ष वनवास में बिताया। ये पाण्डवों को जंगली एवं पहाड़ी जाति के रूप में अपना पूर्वज मानते हैं। इनका कहना है कि ये लोग भी महाभारत के पाण्डवों की परम्पराओं का ही अनुसरण कर जीविका-अर्जन करते हैं।[18]आदिवासी बहुल क्षेत्र झारखंड में आदिवासियों को जनजाति और आदिम जानजाति दो खेमों में बांटा गया है। झारखंड में 'असुर', 'बिरहोर', 'बिरिजिया', 'कोरबा', 'माल पहाड़िया', 'सौरिया पहाड़िया' और 'सावर' को आदिम जनजातियों की श्रेणी में रखा गया है। आदिम जनजातियां पूरी तरह कृषि और जंगल पर निर्भर रही हैं परंतु आज कारखानों व खनन के लिए जंगल काटे जा रहे हैं। परिणामतः आदिम जनजातियां जंगल से बाहर हो रही हैं तथा मुख्यधारा के समाज से तालमेल नहीं बिठा पा रही हैं।[19]आदिवासी आदिम जातियों की अस्मिता खतरे में है। क्योंकि संथाल परगना कमिशनरी में छह जिले हैं। इस जिले से अबतक तीन मुख्यमंत्री बन चुके हैं- शिबू सोरेन, बाबूलाल मरांडी और हेमंत सोरे। इसके बावजूद इन जिलों में आदिम जनजातियां हाशिये पर हैं। सरकारी विकास और योजनओं का लाभ मुख्यधारा से जुड़ चुकी कुछ जनजातियां मसलन 'मुंडा', 'उरांव' और 'होरो' वगैरह ही उठा पाती हैं।[20] पूर्वोत्तर राज्यों की यदि बात करें तो कई जनजातियां ऐसी हैं जिन्हें सरकार की ओर से अनुसूचित जनजातियों में नहीं रखा गया है, इनमें 'मोरान', 'मटक', 'ताई', 'अहोम', 'चाय जनजाति' आदि आती हैं। त्रिपुरा की बड़ी जनजातियों में त्रिपुरी, जयंतिया, रियांग, नाअतिया, कोलोई, मुरासिंह, चकमा, हलाम, गारो, कूकी, मिजो, मोघ, मुंडा, ओरांग, संथाल, और उचोई प्रमुख हैं। अरुणाचल प्रदेश में मोंपा, खाम्ती, आदी, अका, आपातानी, निशि, मिसमी, मिजी, नोक्टे जनजातियां निवास करती हैं। नगालैंड की प्रमुख जनजातियां - अंगामी, आओ, चाखेसांग, चांग, डिमासा, कछारी, खियामनीउंगम, कोन्याक, लौथा, फोम, पोचुरी, रेंग्मा, सांग्तम, सूमी, कूकी और जिलियांग बड़ी जनजातियां हैं। मणिपुर की लुसाई-कूकी, खामती, आका, नगा, मिजो, मणिपुरी, बोडो, कार्बी, मिसिंग, खासी, अहोम, बोडो कछारी, मिरी और देउरी प्रमुख जनजातियां हैं। गारो, खासी, जयंतिया मेघालय की प्रमुख जनजातियां हैं। मिजोरम में मिजो, लुसेई, गान्ते, पावी, लाखेर, मारा, रियांग और चकमा आदि जनजातियां निवास करती हैं तथा सिक्किम में लेपचा, लिंबू।[21]पूर्वोत्तर क्षेत्र के आदिवासियों की सबसे बड़ी समस्या उसकी भौगोलिक

| ISSN: 2394-2975 | www.ijarety.in| | Impact Factor: 6.421| A Bi-Monthly, Double-Blind Peer Reviewed & Referred Journal |

|| Volume 11, Issue 1, January 2024 ||

स्थिति तथा शिक्षा के नाम पर बड़े शहरों में पलायन है। ये जनजातियां अपनी पारंपरिक मूल्यों को प्रवास के दौरान भी संजोने की पुरजोर कोशिश करती हैं तथा अपनी भाषा को किसी कीमत पर खोने नहीं देती। इन्हें सभ्य समाज उपेक्षित दृष्टि से देखता है, फिर भी ये अपनी अस्मिता के लिए छोटे से लेकर बड़े शहरों में संघर्षरत डटे हुए हैं।[14]

भारत की सर्वाधिक जनसंख्या वाली जनजाति गोंड है। मध्यप्रदेश में ये स्थानीय छत्तीसगढ़ी बोली और गोंडी भाषा बोलते हैं। बिहार तथा उत्तर प्रदेश में खड़ी बोली व भोजपुरी बोलते हैं। जबकि दक्षिण में तेलगू बोलते हैं, जिन्हें कोया नाम से जाना जाता है। भवानीप्रसाद मिश्र अपनी कविता- 'सतपुड़ा के जंगल' में गोंड आदिवासियों के संदर्भ में कहते हैं- "इन वनों के खूब भीतर/चार मुर्गे, चार तीतर/पाल कर निश्चिंत बैठे/विजन पन के बीच पैठे/झोंपड़ी पर फूस डाले/गोंड तगड़े और काले/जब कि होली पास आती/सरसराती घास गाती और महुए से लपकती/मत करती बास जाती/गूंज उठते ढोल इन के/गीत इन के गोल इन के/सतपूड़ा के घने जंगल/उंघते अनमने जंगल।"[22]भवानी प्रसाद ने इन पंक्तियों में गोंड जनजाति की सामाजिक, सांस्कृतिक दृश्य का चित्रण कर उनके जातीय स्वरूप का जीवंत रूप प्रकट किया है। स्टीफन फ्यूच, वैरियर एल्विन, हट्टन तथा ग्रिगसन आदि लेखकों ने गोंडों के बारे में पर्याप्त लिखा है, लेकिन इनके आर्थिक व सामाजिक स्थिति में पहले कि तुलना में ह्रास ही हुआ है। इस व्यापक आदिवासी समुदाय की अस्मिता की रक्षा उनकी प्राकृतिक संपदा तथा हरा-भरा वातावरण से पृथक करके नहीं बल्कि उन्हें सुपुर्द करके किया जा सकता है। यदि भारतीय संदर्भ में आदिवासी जातियों को देखें तो पूर्व से पश्चिम तथा उत्तर से दक्षिण सीमा तक आदिवासी समुदाय अनेक जातियों में बंटा हुआ है। लेकिन आदिवासी का जातीय स्वरूप व्यापक होते हुए भी इनका केंद्रीय भाव प्राकृतिक उद्यमों से जुड़ा है।

आदिवासी अस्मिता के परिप्रेक्ष्य में आदिवासी की अवधारणा पर हमें कायदे से आलोचनात्मक ढंग से विचार करना चाहिए। एक विकासमान मानव को जंगली, वनवासी, असभ्य, बर्बर, गिरिजन, लंगोटिया आदि नामों से संबोधित कर उन्हें समझ लेना कितना सार्थक है इस बात की भी पुष्टि होनी चाहिए। इल्विन महोदय ने आदिवासी को परिभाषित करते हुए लिखा है कि "आदिवासी वह है जो सबसे शुद्ध हो। वह ऐसा ग्रुप है जो मैदानी इलाकों में रहने वालों के संपर्क में हो और आदिवासी जीवनशैली में रहता हो।"[23] विभिन्न विद्वानों ने आदिवासी के संदर्भ में अलग-अलग मत प्रकट किया है। जिससे स्पष्ट होता है कि आदिवासी भारतवर्ष के मूल निवासी हैं, इसलिए किसी अन्य शब्दों के बजाय इनके लिए 'आदिवासी' उपयुक्त शब्द है। हर आदिवासी समूदाय की अपनी भाषा, संस्कृति तथा स्वतंत्र सुरक्षात्मक संगठन होता है। बहुतायत संख्या में आदिवासी जातियां हैं लेकिन अधिकांशतः आधुनिक विकास, शिक्षा, संस्थान, नौकरी और सरकारी लाभ से वंचित हैं। कुछ जातियों को आदिवासी की सूची में भी नहीं रखा गया है तथा कुछ जातियाँ आदिवासी होने का स्वांग भी कर रही हैं। कुछ आदिवासी जातियां हिंदू समाज के संपर्क में आने के कारण हिंदू धर्म, संस्कृति को अपना चूकि हैं। गैर आदिवासी समाज का शोषणात्मक प्रभाव आदिवासियों की निजता और विशिष्टता को तेजी से खत्म कर रहा है। अतः आदिवासी अस्मिता और उसके विकास के लिए आवश्यक है कि वैचारिक शिक्षा की रौशनी प्रत्येक आदिवासी समुदाय तक पहुंचे।

निष्कर्ष

| ISSN: 2394-2975 | www.ijarety.in| | Impact Factor: 6.421| A Bi-Monthly, Double-Blind Peer Reviewed & Referred Journal |

|| Volume 11, Issue 1, January 2024 ||

यद्यपि प्रेमचंद के कथा-साहित्य में आदिवासियों को जगह नहीं मिली है और न ही उनका आदिवासियों के जीवन से परिचय था, तथापि उनकी रचनाओं में दो जगहों पर आदिवासियों की चर्चा मिलती है 'गोदान' उपन्यास में और 'सद्गति' कहानी में। गोदान में शिकार-प्रसंग में मेहता और मालती की टोली शिकार ढूँढ़ते-ढूँढ़ते जंगल के एक ऐसे हिस्से में पहुँच जाती है, जहाँ उनकी मुलाकात वन-कन्या अर्थात् आदिवासी लड़की से होती है। प्रेमचंद ने उस वन-कन्या का चित्रण करते हुए पारंपरिक सौंदर्य चेतना के आलोक में भले ही उसे कुरूप बतलाया हो, पर उसके मांसल शरीर का वर्णन करते हुए मिस्टर मेहता को उसके प्रति आकृष्ट और उसके सेवा-भाव की प्रशंसा करते हुए दिखलाया है। यह वन-कन्या मेहता की पत्नी की कसौटी पर खड़ी उतरती है, अब यह बात अलग है कि दोहरे मानदंडों के साथ जीने वाले मेहता उसे अपनी पत्नी के रूप में नहीं स्वीकारते, वरन् वह मालती को ऊत्तेजित करने और अपने प्रति आकृष्ट करने के साधन भर में तब्दील होकर रह जाती है। मेहता पूरे प्रसंग में आदिवासी लड़की के 'अंगों का विलास' देखते रहते हैं और मालती से डाँट खाने के बाद आते समय कहते हैं,

'अब मुझे आज्ञा दो, बहन'। प्रेमचंद पूरे प्रसंग में उस आदिवासी लड़की को नाम भी नहीं देते और उसे 'गँवारिन' बनाने की कोशिश करते हैं।

इसी प्रकार 'सद्गति' कहानी आदिवासी संदर्भ में प्रेमचंद के लेखन में आशा की किरण की तरह देखी जा सकती है। इस कहानी में विद्रोही चेतना से लैस एकमात्र पात्र है चिखुरी गोंड़। वह दुखी को पंडित घासीराम के शोषण से बचाने की हर संभव कोशिश करता है, लेकिन धर्मसत्ता के आत्मसातीकरण से उपजे भय के कारण दुखी उससे निकल नहीं पाता और त्रासद मौत का शिकार होता है। उसकी मौत के बाद चमरौने में जा कर वही दलितों को इस अन्याय की खबर देता और आंदोलित करने की कोशिश करता है, 'खबरदार, मुर्दा उठाने मत जाना। अभी पुलिस की तहकीकात होगी। दिल्लगी है एक गरीब की जान ले ली। पंडितजी होंगे, तो अपने घर के होंगे।' इसके बाद पुलिस के भय से कोई भी दलित लाश उठाने नहीं जाता। इस तरह यह कहानी हिंदू धार्मिक संस्कारों से मुक्त एक गोंड़ के माध्यम से ब्राह्मणवाद के खिलाफ लड़ाई की कहानी है, जिसमें दलित और आदिवासी एकता की जरूरत की ओर संकेत भी है।

गैर-आदिवासियों द्वारा आदिवासी-विमर्श

स्पष्ट है कि प्रेमचंद भले ही आदिवासी रचनाकार न हों, पर उन्होंने अपनी रचनाओं के जरिये उस महाजनी सभ्यता के विरुद्ध आवाज उठाई जिनका आदिवासी जीवन एवं समाज में हस्तक्षेप आज भी बदस्तूर जारी है और जो आदिवासी दमन एवं शोषण के मूल में मौजूद है। इन महाजनों की जड़ें आदिवासी क्षेत्रों में न होकर सेमरी एवं बेलारी जैसे गाँवों में हैं और प्रेमचंद इनकी इन्हीं जड़ों पर प्रहार करते हैं। इसीलिए केदार प्रसाद मीना ने सही ही कहा है कि "प्रेमचंद, रेणु, संजीव और रणेंद्र आदि का साहित्य आदिवासी साहित्य न सही, पर आदिवासियों की समस्याओं पर लिखा गया महत्वपूर्ण साहित्य है।" वे इस निष्कर्ष के साथ उपस्थित होते हैं कि "उनकी रचनाओं में आदिवासी जीवन की झलक उतनी ही है, जितनी उस जगह पर आदिवासी आबादी है।" उनका यह भी प्रश्न है कि यदि आज की आदिवासी राजनीति 'छोटानागपुर काश्तकारी अधिनियम' में संशोधन के जरिये आदिवासियों की जमीन खरीद-बिक्री के मार्ग को प्रशस्त कर रही है, तो इसमें कोई 'प्रेमचंद' क्या कर सकते हैं? इसी प्रकार अगर आदिवासी विमर्श दलित-विमर्श का रास्ता अख्तियार करता है, तो किसी दिन फणीश्वरनाथ 'रेणु' के बारे में भी कहा जा सकता है कि उन्होंने 'मैला आँचल' में संथालों को पिटता दिखा कर आनंद प्राप्त किया या उन्हें अपमानित किया है, जो कि सत्य नहीं है।

आदिवासी समस्याओं पर रणेंद्र और संजीव जैसे अच्छे लेखकों की रचनाओं के पात्रों की ऐसी डायरियों, जिनमें आदिवासी समाज का दर्द दर्ज है, को यह उनकी निजी डायरी कह कर इसके बहाने संपूर्ण रचना को खारिज कर रहे हैं। संजीव-रणेंद्र के आदिवासी इलाकों में काम करने वाले पात्र: सुदीप्त और किशन आदि सभी 'दिकू' नहीं कहे जा सकते। इनकी डायरियाँ महज उनकी निजी डायरियाँ नहीं हैं। ये आदिवासी विस्थापन और उसके खिलाफ संघर्ष के दस्तावेज भी हैं, क्योंकि न तो सरकारें इन्हें दर्ज करती हैं और न विस्थापित करने वाली कंपनियाँ। निरक्षर

| ISSN: 2394-2975 | www.ijarety.in| | Impact Factor: 6.421| A Bi-Monthly, Double-Blind Peer Reviewed & Referred Journal |

|| Volume 11, Issue 1, January 2024 ||

आदिवासी तो दर्ज कर ही नहीं सकते। ऐसे में इन लेखकों की रचना और इनके पात्रों की डायरियों का म हत्व बढ़ जाता है। इसलिए इन लेखकों के साहित्य को 'दिकू' साहित्य कहना आदिवासी विमर्श का दुर्भाग्य ही कहा जाएगा। 'जनसत्ता' में प्रकाशित आलेख 'आदिवासी विमर्श के रोड़े' के जरिये केदार प्रसाद मीणा आदिवा सी-विमर्श को 'सहानुभूति-समानुभूति' के उस विवाद में उलझने से बचने की सलाह देते हैं जिसने दलित-विमर्श को 'साहित्य की राजनीति' में ले जाकर उलझा दिया।

आदिवासियों द्वारा आदिवासी-विमर्श

पिछले दो दशकों में हिन्दी संसार में आदिवासी लेखकों, विशेषकर झारखंड क्षेत्र के लेखकों ने अपनी पैठ और पहचान बनाई है। आज आदिवासी कलम की धार आँचलिक, क्षेत्रीय और राष्ट्रीय स्तर तक असरदार बन चुकी है। हेराल्ड एस. टोप्पो और रामदयाल मुंडा ने पत्र-पत्रिकाओं में अपनी नियमित उपस्थिति के जरिये 'जंगल गाथा' से लेखक-पत्रकार के रूप में अपनी विशिष्ट पहचान बनायी है। सामाजिक-राजनीतिक विश्लेषण के लिहाज से एन. ई. होरो, निर्मल मिंज, रोज केरकेट्टा, प्रभाकर तिर्की, सूर्य सिंह बेसरा और महादेव टोप्पो आदि का योगदान अर्थपूर्ण और महत्वपूर्ण है। पत्रकारिता में विवेचना, साक्षात्कार या रिपोर्ताज की शैली में अपने संवाद को प्रभावी बनाने के लिहाज से वासवी, दयामनी बरला, सुनील मिंज और शिशिर टुडु ने अपनी प्रभावी उपस्थिति दर्ज करवायी है। इनमें अपने वर्ग-समाज-राजनीति-संस्कृति से बाहर की दुनिया के मसलों के बारे में खामोशी दिखती है और यही कारण है कि देश और दु निया की बेहतरी के लिए इनकी चिंताएँ और सपने अपने परिवेश तक सीमित हैं। अगर आदिवासी-विमर्श को साहित्य-लेखन के धरातल पर देखें, तो आदिवासी रचनाशीलता मुख्य रूप से कविता, कहानी, उपन्यास और संस्मरण के धरातल पर प्रकट होती हैं। आलोचना और व्यंग्य के क्षेत्र में इनका लेखन अभी आरंभिक चरण में है, ले किन यहाँ भी बुदु उराँव और मंजु ज्योत्स्ना ने अपनी उपस्थिति दर्ज करवाई है।

आदिवासी अस्मिता

आदिवासी-

लेखन हिंदी के अस्मितावादी विमर्शों में सबसे नवीन है। वर्षों से हाशिए पर रखे गये आदिवासी समुदाय को आज साहित्य में जगह मिल रही है और इससे भी अच्छी बात यह है कि इस दिशा में खुद इ स समुदाय के लोगों के द्वारा ही पहल की जा रही है। इस दृष्टि से समकालीन कवि अपनी कविताओं में आदिवासियों के जीवन, उनकी स्थितियों, उनके संघर्षों, उनकी आकांक्षाओं और उनके सपनों को कवि ता में अभिव्यक्त कर रहे हैं। महत्वपूर्ण यह है कि आरंभिक और ज्यादातर आदिवासी साहित्य वाचिक प रम्परा का हिस्सा रहा है और इसीलिए यह गीत या कविता के माध्यम से हमारे सामने आता है। यही कारण है कि आदिवासी साहित्य की विधाओं में 'कविता' सर्वाधिक महत्वपूर्ण विधा रही है। इनमें उनके भोगे हुए सत्य के साथ-साथ आदिवासी समाज के सामाजिक-वैयक्तिक जीवन-संघर्ष को अभिव्यक्ति मिली है। इनमें विभिन्न सामाजिक विद्रोह, नारी के जीवन-संघर्ष, विस्थापन, अशिक्षा, अभाव एवं गरीबी और अस्तित्व के प्रश्न को प्रमुखता मिली है।

झारखण्ड की संथाली कवयित्री निर्मला पुतुल ने हिन्दी कविता में अपनी रचना 'नगाड़े की तरह बजते शब्द' के जरिये अपनी प्रभावी उपस्थिति दर्ज करवायी है। इसी प्रकार 'नदी और उसके संबंधी तथा अन्य नगीत' औ र 'वापसी, पुनर्मिलन और अन्य नगीत' कविता-संग्रह के जरिये रामदयाल मुंडा ने भी पाठकों और आलोचकों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया है। उनकी परवर्ती कविताओं में प्रकृति और मनुष्य के आदिम राग-विराग की जगह राजनीति और समाज की विसंगतियों ने ले ली है। कथन शालवन कगे अंतिम शाल का और विकास का दर्द में उजाड़ बनते झारखंड की व्यथा-कथा और विसंगतियों का उद्घाटन हुआ है। पिछले वर्षों में ग्रेस कुजूर, मोतीलाल, और महादेव टोप्पो की क ई कविताएँ भी खूब सराही गयीं। इन कविताओं की हिन्दी पट्टी की कविताओं से भिन्न एवं विशिष्ट है और इ स विशिष्ट पहचान का सम्बन्ध जुड़ता है, प्रतीक चरित्रों और घटनाओं के संश्लिष्ट कथात्मक निवेश और प्रतिरोध के आंचलिक रंग से। इसमें जिस यथार्थ का वर्णन हुआ है, वह अमूर्त नहीं है और न ही यह हवा-हवाई है। दरअसल इसके मूल में सहानुभूति की बजाय समानुभूति है और इसीलिए इसमें सतहीपन की बजाय आदिवासी-जीवन से अंतरंगता परिलक्षित होती है, जिसे निम्न परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है

| ISSN: 2394-2975 | www.ijarety.in| | Impact Factor: 6.421| A Bi-Monthly, Double-Blind Peer Reviewed & Referred Journal |

|| Volume 11, Issue 1, January 2024 ||

आदिवासी अस्मिता का प्रश्न

समकालीन हिन्दी कविता में आदिवासी जीवन को व्यक्त करने वाले कवियों ने अपनी कविता के माध्यम से आदिवासी अस्मिता को पहचाने की कोशिश की है। पूर्वोत्तर के आदिवासियों का आंदोलन अपनी पहचान का आंदोलन है। अपनी पुरातन संस्कृति का ह्रास और उसमें आनेवाली विकृतियों को देखकर उनका कवि-मन तिलमिला उठता है। वह देखता है कि पश्चिम के हस्तक्षेप के कारण उसकी हीन-भावना गहराती जा रही है और इस मनःस्थिति में 'दिकुओं' के द्वारा उसका इस्तेमाल आसान हो जाता है। ऐसी स्थिति में उसे अपनी ही जमीन एवं अपनी ही बिरादरी के प्रति गद्दारी से भी परहेज नहीं होता। यह आदिवासी–

अस्मिता पर उत्पन्न संकट को गहराने का काम करता है। यह स्थिति आदिवासी कवियों को इस प्रभाव एवं इस प्रभाव में अपने ऊपर लादे गए संस्कार पर करारे प्रहार के लिए विवश करती है। यही वह पृष्ठभूमि है जिसमें मेघालय के कवि 'पॉल लिंग दोह' की 'बिकाऊ है' कविता इस स्थिति के लिए आदिवासियों को ही जिम्मेवार मानती है और उन्हें कोसते हुए कहती है: बिकाऊ है हमारा स्वाभिमान, हमारी मान्यताएँ, हमारी सामूहिक चेतना, अतिरिक्त बोनस: ये सारी चीजें लुटाने के भाव उपलब्ध हैं। विशेष: संपर्क के लिए टेलिफोन नंबर की जरुरत नहीं, हमारे एजेंट हर कहीं हैं।

स्पष्ट है कि आदिवासी की मूल पहचान उसकी संस्कृति से जुड़ी हुई है। जबतक यह संस्कृति है, तबतक उन की पहचान सुरक्षित है और जैसे ही यह संस्कृति खतरे में पड़ेगी, उनकी पहचान खतरे में पड़ जायेगी। आज वाकई बाजारवाद के कारण आदिवासियों की यह पहचान खतरे में है।

आदिवासी स्त्री की अस्मिता

अंग्रेजों के साथ-

साथ जमींदारों, साहूकारों और महाजनों के द्वारा उनके शारीरिक शोषण और पुरुषों के उनके प्रति अमानुषिक बर्ताव और उनके दमन, शोषण एवं उत्पीड़न की लम्बी परम्परा रही है तथा इसके विरुद्ध उन्होंने समय-

समय पर आवाज भी बुलंद की है। इतना ही नहीं, आदिवासी समाज के सामने विस्थापन एक ऐसी समस्या के रूप में सामने आती है जो उन्हें सांस्कृतिक, मानसिक और भौगोलिक तौर पर बदलकर रख देती है और इसकी पृष्ठभूमि में आदिवासी स्त्रियाँ देह में तब्दील होकर रह जाती हैं। सभ्य समाज उस की देह की गंध से रोमांचित हो उठता है और फिर शुरू होता है देह को खरीदने एवं बेचने का अंत हीन सिलसिला।

यही वह पृष्ठभूमि है जिसमें आदिवासी साहित्य में स्त्रियों के बहुत से सवालों को महत्व मिला है। इसमें इस समाज की प्रताड़ित महिलाओं की पीड़ा एवं वेदना, उनकी अंतर्वेदना, उनकी कराह एवं चीख और मदद के लिए उनके द्वारा लगाई जा रही गुहारें पहाड़ों, जंगलों और घाटियों में बज रहे नगाड़े की तरह गूँज उठती हैं। निर्मला पुतुल की कवितायें इसकी प्रमाण हैं जिनमें आदिवासी स्त्री के जीवन का चित्रण करते हुए स्त्री-अस्मिता का सवाल उठाया गया है और आदिवासी समाज के साथ-साथ स्त्री के विविध पहलू पर भी टिप्पणी की गयी है।

काव्यगत सौंदर्य

आदिवासियों के द्वारा लिखी जा रही कविताओं में जिन प्रतीकों, बिम्बों और मिथकों का प्रयोग किया जा रहा है, वे उनके जीवन और उनकी संस्कृति से उठाये जा रहे हैं। इनमें मिथक उन लोक-परंपराओं से उठाये गए हैं जिनका संबंध उनके समाज एवं संस्कृति के साथ जुड़ता है और इसीलिए वे प्रचलित मिथकों से बिल्कुल अलग हैं। उनके मिथक प्राचीनतम ग्रन्थों से संपृक्त रहते हैं और ये प्रकृति से गहरे स्तर पर सम्बद्ध होते हैं। इस तरह इनकी कविता में प्रसंग अनायास ही जुड़ते चले आते हैं। स्पष्ट है कि आदिवासी कविता वह जमीन तैयार करती है जो आदिवासी समाज और साहित्य के विविध पहलुओं को समझने में मददगार है।

हिन्दी उपन्यास में आदिवासी विमर्श

| ISSN: 2394-2975 | www.ijarety.in| | Impact Factor: 6.421| A Bi-Monthly, Double-Blind Peer Reviewed & Referred Journal |

|| Volume 11, Issue 1, January 2024 ||

हिन्दी जगत पहले -

पहल आदिवासी समाज से रूबरू हुआ रेणु के आँचलिक उपन्यास 'मैला आँचल' में, जब उसने अपने जमीनी हक से बेदखल संथालों को अपने स्वत्व और अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करते देखा। यहीं उसका परिचय आदिवासियों की जिजीविषा और जीवटता से भी हुआ और उसने देखा कि प्रशासन की बेरुखी और जुल्म का शिकार होने के बावजूद माँदर एवं डिग्गे की आवाज बंद नहीं हो पाई। लेकिन, एक सच्चे हमदर्द की तरह पीड़ित संथालों के प्रति सहानुभूति के बावजूद यह संघर्ष तार्किक परिणति त क नहीं पहुँच पाता, फलतः उनके जीवन में बदलावों को ला पाने में असमर्थ रहता है। रेणु की समाज वादी यथार्थवादी चेतना और उनका यथार्थवादी आग्रह उन्हें इस समस्या का काल्पनिक एवं आदर्शपरक स माधान देने से रोक देता है। ऐसा नहीं कि 'मैला आँचल' के बाद आदिवासी जीवन को लेकर रचनाएँ नहीं आयीं, पर उनमें, विशेषकर बस्तर जैसे अंचलों को लेकर लिखी गयी रचनाओं में लेखक की दिलच स्पी स्वच्छंद प्रेम की घोटुल –

प्रथा जैसे अतिरेकवादी तत्वों को लेकर कहीं ज्यादा थी। आगे चलकर महाश्वेता देवी के उपन्यास 'हजार चैरासी की माँ' एक सशक्त एवं प्रभावी हस्तक्षेप के साथ अपनी उपस्थिति दर्ज करवायी और नक्सलवाद को लेकर एक नए नजरिए से हिन्दी जगत को रूबरू करवाया। उन्होंने यह बतलाने की कोशिश की कि नक्सली हिंसा ऐतिहासिक परिस्थितियों और एक लम्बे समय से चले आ रहे ऐतिहासिक अन्याय की उपज है। अपने परवर्ती उपन्यासों में भी महाश्वेता देवी ने आदिवासियों की विद्रोही चेतना को अभिव्यक्ति देते हुए हिन्दी के पाठकों को बिरसा मुण्डा जैसे महानायक से परिचित करवाया।

लेकिन, औपन्यासिक धरातल पर आदिवासी विमर्श की परम्परा **1980** के दशक में शुरू होते देखा जा सकता है। हेराल्ड एस. टोप्पनो के अधूरे (प्रकाशित) उपन्यास को पढ़ते हुए एक विस्फोटक संभावना से भेंट होती है। आठवें दशक में वाल्टर भेंगरा ने झारखण्ड अंचल और वहाँ के जीवन को केंद्र में रखते हुए 'सुबह की शा म' उपन्यास लिखा जो आदिवासियों के द्वारा लिखा गया पहला हिन्दी उपन्यास है। पिछले दशक में उनके तीन उपन्यास: तलाश, गैंग लीडर और कच्ची कली प्रकाशित हुए। लेकिन, पिछले दिनों पीटर पाल एक्का के उप न्यास जंगल के गीत की सबसे अधिक चर्चा हुई जिसके जरिये एक्का ने बिरसा मुण्डा के उलगुलान के संदेश को तुंबा टोली गाँव के युवक करमा और उसकी प्रिया करमी के माध्यम से पहुँचाने की कोशिश की। इससे पहले भी उनका एक उपन्यास मौन घाटी के नाम से प्रकाशित हो चुका है। झारखंड के इन आदिवासी कथा कारों की समस्या यह है कि वे आधुनिक लेखन के सामयिक रूझानों और शिल्प –

साँचों से अपरिचित प्रतीत होते हैं। लेकिन, मुख्यधारा इसकी कुछ हदतक भरपाई करती हुई आती है। इस द ृष्टि से रमणिका गुप्ता के उपन्यास 'सीता - मौसी' और कैलाश चंद चैहान के उपन्यास 'भँवर' के साथ - साथ संजीव एवं रणेंद्र के उपन्यास महत्वपूर्ण हैं। राजस्थान के बड़े आंदोलन से जुड़े होने के कारण हरिराम मीना के उपन्यास 'धूणी तपे तीर' को भी काफी चर्चा मिली है जिसे बिहारी सम्मान से नवाजा गया। स्पष्ट है कि आदिवासी समाज सदियों से जातिगत भेदों, वर्ण व्यवस्था, विदेशी आक्रमणों, अंग्रजों और वर्तमान में सभ्य कहे जाने वाले समाज (तथाकथित मुख्यधारा के लोग) द्वारा दूर - दराज जंगलों और पहाड़ों में खदेड़ा गया है। अज्ञानता और पिछड़ेपन के कारण उन्हें सताया गया है। अक्षरज्ञा न न होने के कारण यह समाज सदियों से मुख्यधारा से कटा रहा, दूरी बनाता रहा। उनकी लोककला और उनका साहित्य सदियों से मौखिक रूप में रहा हैं और इसका कारण रहा उनकी भाषा के अनुरूप लिपि का विकसित न हो पाना। यही कारण साहित्य जगत में आदिवासी रचनाकार और उनका साहित्य गैर - आदिवासी साहित्य की तुलना में कम मिलता है। आज भले ही आदिवासियों की रचनाओं में एक प्रकार की अनगढ़ता एवं खुरदरापन दिखे और कलात्मक बारीकियों के आलोक में उनका मूल्यांकन पाठकों एवं आलोचकों को निराश करता हो, पर इसका महत्व इस बात में है कि इसने मुख्यधारा के द्वारा उपेक्षित एवं तिरस्कृत आदिवासी समाज एवं उनके जीवन से व्यापक समाज को परिचित करवाने की कोशिश की।[15]

संदर्भ

| ISSN: 2394-2975 | www.ijarety.in| | Impact Factor: 6.421| A Bi-Monthly, Double-Blind Peer Reviewed & Referred Journal |

|| Volume 11, Issue 1, January 2024 ||

1. टेटे, वंदना (सं.), आदिवासी दर्शन और साहित्य, पृष्ठ सं. 19-20
2. सिंह, अविनाश कुमार, कथाक्रम, अक्टूबर-दिसम्बर 2011, पृष्ठ सं. 16
3. गुप्ता, रमणिका (सं.), युद्धरत आम आदमी, जुलाई-सितम्बर 2007, पृष्ठ सं. 49
4. मीणा, गंगा सहाय (सं.), आदिवासी साहित्य विमर्श, पृष्ठ सं. 9
5. मीणा, श्रवण कुमार (सं.), समकालीन विमर्श : बदलते परिदृश्य, पृष्ठ सं. 70-71
6. साहनी, भीष्म, कसौटी, अंक – 1, पृष्ठ सं. 13
7. गुप्ता, रमणिका, दलित हस्तक्षेप, पृष्ठ सं. 19
8. उद्धृत, मीणा, हरिराम, आदिवासी दुनिया, पृष्ठ सं. 143
9. मीणा, श्रवण कुमार (सं.), समकालीन विमर्श : बदलते परिदृश्य, पृष्ठ सं. 22
10. मीणा, गंगा सहाय (सं.), आदिवासी साहित्य विमर्श, संपादक की कलम से
11. टेटे, वंदना, आदिवासी साहित्य : परंपरा और प्रयोजन, पृष्ठ सं. 87-88
12. मीणा, गंगा सहाय (सं.), आदिवासी साहित्य विमर्श, पृष्ठ सं. 10
13. झारखंडी भाषा, साहित्य, संस्कृति अखड़ा के तत्वावधान में 14-15 जून, 2014 को राँची (झारखंड) में 'आदिवासी दर्शन और समकालीन आदिवासी साहित्य सृजन' विषय पर दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी संपन्न हुई । जिसमें आदिवासी समाज व साहित्य के बारे में सही समझ विकसित करने एवं उसका मूल्यांकन करने की बुनियादी शर्तों के रूप में पन्द्रह सूत्रीय तत्वों की पहचान करने की कोशिश की गई है । इसे ही 'राँची घोषणा-पत्र' के नाम से जाना जाता है ।
14. टेटे, वंदना (सं.), आदिवासी दर्शन और साहित्य, पृष्ठ सं. 49-50
15. मीणा, श्रवण कुमार (सं.), समकालीन विमर्श : बदलते परिदृश्य, पृष्ठ सं. 55

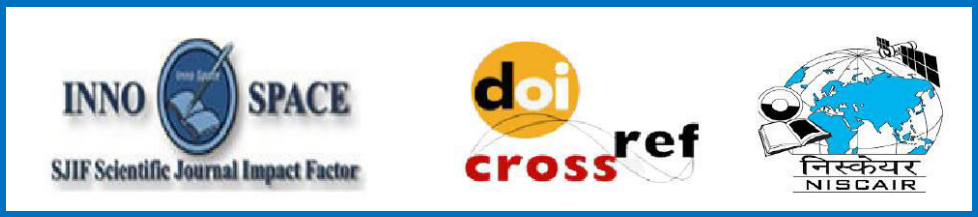

International Journal of Advanced Research in Education and TechnologY (IJARETY)

www.ijarety.in editor.ijarety@gmail.com